अमृत काल
अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ समीक्षित एवं स्वीकृत शोध पत्रिका
ISSN: 3048-5118, खंड 4, अंक 1, जनवरी - मार्च 2026

कर्म का सिद्धांत और भारतीय दर्शन

डॉ. हंसराज रैगर

सह आचार्य, हिन्दी, राजकीय वाणिज्य महाविद्यालय, सीकर, राजस्थान

सारांश:

भारतीय दर्शन परम्परा में कर्म का महत्व पुराना है। मीमांसक भी कर्मवाद को विकृत करते हैं, लेकिन श्रीमद्भगवद्गीता का कर्म-योग मीमांसकों से अलग है। श्रीमद्भगवद्गीता सांसारिक कर्तव्यों को समझकर निष्काम बुद्धि से उनके पालन पर बल देती है, लेकिन मीमांसक याज्ञिक कर्म काण्ड को महत्व देते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मयोग में निःस्वार्थता तथा अनासक्ति का भाव है, जबकि कर्मवाद में स्वर्ग तथा आसक्ति की भावना प्रबल है। श्रीकृष्ण ने कहा कि जो सब भूत है और जगत को बनाया है, वह अपने कर्मों से पूजा जाता है, न कि पत्तों, फूलों या वाणी से कहने से मनुष्य सिद्धि पाता है। श्रीमद्भगवद्गीता ने संसार के अपने कर्तव्यों पर डटकर खड़े रहने का उपदेश नहीं दिया है और न ही सांसारिक कर्तव्यों से भागने का। वह लोगों को लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि के अलावा केवल कार्य करने का सिखाती है। यह कहना कि भगवान अपने स्वयं के कर्मों से संसारी लोगों को कर्म करने की शिक्षा देता है, यह कर्मयोग का सिद्धांत है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, हे पार्थ, मैं इस जगत में कुछ भी नहीं कर सकता, लेकिन मैं भी कर्म करता हूँ।

मूल शब्द: उपनिषद्, गीता, कर्म, न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन, मीमांसा दर्शन, सांख्य-योग दर्शन, वैदिक दर्शन, बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन

न्याय-वैशेषिक दर्शन में शब्द 'कर्म' का अर्थ गति है। क्रिया शब्द का पर्याय शब्द कर्म है। कर्म का अर्थ है चलना, फिरना, घूमना आदि। एक कर्म की विशेषता यह है कि यह एक ही द्रव्य के साथ सम्बद्ध रहता है और शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है। यह केवल मूर्त द्रव्य में रहता है। कर्म संयोग, विभाग, गुणत्व या द्रवत्व में से किसी से हो सकता है। इसमें कोई गुण नहीं हो सकत्ता ।

कर्म के पांच प्रकार हैं: उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन। उत्क्षेपण ऊर्ध्वदेश में संयोग का कारण है। अधोदेश का संयोग अपक्षेपण है। शरीर के समीप संयोग को आकुंचन कहा जाता है, जबकि शरीर से दूर संयोग को प्रसारण कहा जाता है। इससे अलग किसी भी कार्य को गमन कहा जाता हैश्।

न्यायशास्त्र में कर्म को अदृष्ट कहा जाता है। आत्मा अदृष्ट है। अच्छे और बुरे कामों से आत्मा संस्कारित होती है। वह आत्मा में रहता है जब तक उसका फल नहीं मिलता। कर्म और उसके फल के बीच बहुत अधिक संघर्ष होता है। इस व्यवधान में कर्मजन्य 'अदृष्ट' को मानना चाहिए, जो कर्म और उसके परिणामों के बीच संबंध स्थापित करता है, जिससे कर्म फल का कारण बनता है। यदि ऐसा नहीं माना जाए तो बहुत पहले विनष्ट हुए कर्म को बहुत बाद में मिलने वाले फल का कारण नहीं माना जा सकता। फल और कर्म के बीच कोई सम्बन्ध नहीं होने के कारण सिद्धान्त ही समाप्त हो जाएगा। इसलिए, ईश्वर ष्अदृष्टष् का नियामक है और कर्म और फल का आयोजन करता है।

कर्म-मीमांसा: वेदों में कर्म-सिद्धान्त का व्याख्यान बहुत है। मुख्य सिद्धान्त कर्म-सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों के अनुसार परिणाम प्राप्त करता है। मनुष्य दोनों अच्छे और बुरे कामों का परिणाम भोगता है।

गीता बताती है कि मनुष्य जो भी कर्म करता है, वह कभी नष्ट नहीं होता। उसके कर्मों में कोई बाधा नहीं है। यदि वह अच्छे काम करता है, तो उसे अच्छे परिणाम मिलेंगे। उसकी छोटी सी पवित्रता और उदारता उसे बड़े संकटों से बचाती है। नीतिशतक में भर्तृहरि ने कहा कि कर्म सबसे बड़ी शक्ति है। परमात्मा भी कर्मों को बदल नहीं सकता। उसकी क्रियाओं के अनुरूप फल मिलेंगे। ऋग्वेद कहता है कि आलसी, प्रमादी, अकर्मण्य और अनास्तिक व्यक्ति अपने कर्मों से मारा जाता है। साथ ही, अथर्ववेद कहता है कि पापी आज है, कल नहीं रहेगा। अथर्ववेद में कहा गया है कि कर्म और तप सृष्टि की उत्पत्ति हैं। सृष्टि का जन्म कर्म से हुआ और तप से हुआ। इसलिए कर्म की स्थिति सर्वोच्च है। जब काम होता है. गति होती है, जीवन होता है और दुःखों का अभाव होता है। क्रिया और गति में प्रत्यक्ष संबंध है। इसलिए कर्म और गति प्रगति परस्पर संबंधित हैं। ओत-प्रोत होते हैं। इससे पता चलता है कि कर्म से सुख मिलता है. जबकि अकर्मण्यता से दुःख और अभाव मिलता है।

यजुर्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मनुष्य केवल कर्म करके सौ वर्ष जीवित रहना चाहिए। यह भी कहा गया है कि अगर वह कर्तव्य या निष्काम भाव से कार्य करता है तो कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ेगा। इसका अर्थ है कि अगर कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट फल की इच्छा से या सकाम भाव से कार्य करता है तो वह कर्मों के बंधन में पड़ जाएगा। सुखी जीवन जीने के लिए काम करना चाहिए। जीवन, उनति, प्रगति और विकास कर्म है।

अमृत काल
अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ समीक्षित एवं स्वीकृत शोध पत्रिका
ISSN: 3048-5118, खंड 4, अंक 1, जनवरी - मार्च 2026

यहाँ अकर्मण्यता और अकर्मण्यता होती है, वहाँ दुःख, दुःख, अभाव और विपत्तियां आती हैं। ऋग्वेद में अकर्मण्य, कामचोर या निकम्मे व्यक्ति को दस्यु, चोर, दास या अधम कहा गया है। साथ ही कहा गया है कि कोई भी निषिद्ध, निन्दित या कुकर्म करता है। वह एक आदमी कहलाने के योग्य नहीं है। ऐसे असामाजिक व्यक्ति को मार डालना राजा की जिम्मेदारी है।

गीता का प्रसिद्ध श्लोक कहता है कि मनुष्य का कर्तव्य है कि सदा कर्म करे और कर्मफल में आसक्ति न रखे. यह यजुर्वेद के उक्त मंत्र का ही भाव है। गीता बताती है कि जीवित रहने और जीवित रहने के लिए कर्म करना अनिवार्य है। यदि कोई कर्म नहीं करेगा, तो उसके लिए जीवन निर्वाह करना भी कठिन होगा।

सांख्य-योग दर्शन का कर्मवाद: प्रकर्षेण सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति दो मूल तत्त्व हैं। जबकि मनुष्य चेतन है, प्रकृति अचेतन है। जबकि अचेतन बदलता रहता है, चेतना निरंतर रहती है। प्रकृति अचेतन तत्त्वों को जन्म देती है। उसे प्रकृति कहते हैं, जिसमें निरंतर कार्रवाई होती है कृतिः करणम् यत्र सा प्रकृतिः। प्रकृति निरंतर क्रियाशील है। जब चेतन तत्त्व अज्ञानवश प्रकृति से तादात्म्य बना लेता है, तो प्रकृति की क्रिया मानव की क्रिया बन जाती है। इसलिए शरीर को अज्ञान का कारण बताया जाता है।

सांख्यदर्शन में कर्नी प्रकृति है। सत्त्व, रजस् तथा तमो गुणों से कर्म का संबंध है। वास्तव में, प्रकृति ही सब कुछ करती है और वही सब कुछ खाती है। आत्मा नहीं होती। आत्मा पूरी तरह से चैतन्य है। योगदर्शन में भी कर्म का अर्थ है क्रियारूप ही। महर्षि पतंजलि ने चार प्रकार के कर्म बताए हैं शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल।

शुक्ल कर्म: सत्त्वगुण प्रधान होने पर व्यक्ति शुभ कार्य करता है। सत्त्वगुण प्रकाशक होता है, यानी शुभ्र, इसलिए उसका कार्य शुक्ल कहा जाता है।

कृष्ण कर्म: जब तमोगुण अधिक होता है, तो व्यक्ति कृष्ण कर्म करता है। नरकादि दुःखों का कारण कृष्ण कर्म है। तमोगुण आवरक है।

शुक्ल कृष्ण कर्म: तपस्वी, स्वाध्यायी तथा योगाभ्यास करने वाले लोग शुक्ल कर्म करते हैं। मध्यम कोटि के लोग, जिनमें गुणों की मात्रा घटती-बढ़ती है। शुक्ल और कृष्ण दोनों कर्म करते हैं। अशुक्ल अकृष्ण कर्म सिद्धयोगी के कर्म किसी भी प्रकार का भोग देने वाले नहीं होते। क्योकि उनका चित्त कर्म संस्कारों से शून्य होता है। इनकी कर्म-राशि अशुक्ल अकृष्ण कही जाती है।

योगदर्शन कहता है कि प्रथम तीन प्रकार के कर्मों से कर्माशय होता है। चैथी प्रकार का कर्म कर्माशय नहीं है। कर्माशय का अर्थ है कर्म से उत्पन्न शुभाशुभ संस्कार। क्रियाएं क्षणिक हैं, लेकिन संस्कार स्थायी हैं। संस्कार आत्मिक रूप से रहते हैं। संस्कार आपको उदार बनाता है। योगदर्शन के अनुसार, अच्छे और बुरे कर्मों का तीन प्रकार का फल मिलता है जाति, आयु और भोग जाति शब्द जन्म ग्रहण का अर्थ है। जाति मनुष्य या मनुष्येतर किसी भी योनि में जन्म लेना है। आयुष्य में देह और प्राण एक साथ रहना आवश्यक है। दुःख-सुख का अनुभव करना भोग है। मानव अपने स्वकृत कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोग तभी कर सकता है, जब वह जीवित है। जन्म से मनुष्य की आयु शुरू होती है। इस तरह के कार्यों के परिणाम एक दूसरे से जुड़े हैं। इससे पता चलता है कि मनुष्य के जन्म और मरण के मध्य में किए गए कर्मों से संचित हुआ कर्माशय आगमी जन्म का कारण होता है।

वैदिक दर्शन में कर्मवाद: वैदिक युग की शुरुआत में यज्ञों और प्राकृतिक देवी-देवताओं का बहुत बड़ा महत्व था। देवी-देवताओं की जगह कर्म ने ले ली। यही कारण था कि वे यज्ञों पर भरोसा करने लगे। यज्ञों का विधान देवी-देवताओं के स्तर के अनुसार होने लगा। समाज में यह विश्वास बढ़ा कि यज्ञ ही कर्मफल देगा। इस परम्परा को तर्क और दर्शन युग में मीमांसा दर्शन कहा गया था। लेकिन वैदिक परम्परा में यज्ञकर्म के विकास के साथ-साथ देवी-देवताओं की आस्था भी विकसित हुई। ब्राह्मण काल में, एक प्रजापति ने देवाधिदेव की जगह ली थी। प्रजापति ने कर्म सिद्धान्त को अपनी परंपरा में शामिल किया। ब्राह्मणों ने अपने विधान के अनुसार कर्म सिद्धान्त और प्रजापति को एक साथ जोड़ दिया। वे मानते थे कि हर जीव को उसके काम का परिणाम अवश्य मिलता है। जीव का नियंत्रण फलों पर नहीं है। ईश्वर प्रत्येक जीव को उनके कामों के अनुसार प्रतिफल देता है। वेदान्त, सांख्यदर्शन और न्याय-वैशेषिक शाखाएं वैदिक दर्शन की इस विचारधारा को स्वीकार करती हैं।

1. संचित, 2. प्रारब्ध, 3. संचीयमाण या क्रियमाण, वैदिक दृष्टिकोण में कर्म को तीन भागों में विभाजित किया गया है।

1. संचित कर्मः वर्तमान समय से पहले जन्म में किये हुए कर्म और जन्म-जन्मान्तर के अनेक जन्मों में किये हुए कर्म जो संगृहीत है, वे संचित कर्म कहलाते हैं। इस कर्म के फल का उदय नहीं हुआ रहता है। यह संस्कार बनकर समय की प्रतीक्षा करता है।
2. प्रारब्ध कर्मः प्रारब्ध कर्म वे कर्म हैं, जो फलोन्मुख होते हैं। वर्तमान जीवन में प्राणी जो कुछ भी अच्छा या बुरा फल भोग रहा है, वह प्रारब्ध कर्म का परिणाम है। संचित कर्मों में से ही फलोन्मुख कर्म को लेकर प्राणी के प्रारब्ध का निर्माण होता है। इसे देव या भाग्य भी कहते हैं। प्रारब्ध कर्म का भोग करना प्राणी के लिए अनिवार्य होता है।
3. संचीयमाण या क्रियमाण कर्मः प्राणियों के द्वारा इस जीवन और वर्तमान काल में किया जाने वाला कर्म क्रियमाण कर्म कहलाता है। इस कर्म का फल भविष्य में मिलेगा।

अमृत काल
अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ समीक्षित एवं स्वीकृत शोध पत्रिका
ISSN: 3048-5118, खंड 4, अंक 1, जनवरी - मार्च 2026

उपनिषद् दर्शन में कर्मवाद: उपनिषदों में 'कर्म' शब्द क्रिया का अर्थ है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि शास्त्रनियत कर्म करके सौ वर्ष तक जीवित रहना चाहिए। निष्ठा भाव से किया गया कर्म बंधन नहीं उत्पन्न करता। सत् और असत् दो प्रकार के कर्म हैं। सत्कर्म शास्त्र सम्मत है। मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि त्वया सेवितानि नो इतराणि। इस प्रकार अनवद्य कर्म का उपदेश देकर कर्म के द्वैविध्य की ओर संकेत किया गया है। इस दुनिया में कोई भी व्यक्ति सच्चे कर्मों के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। जैसे हंसना, रोना, खाना, पीना आदि हर समय होते रहते हैं। इसलिए निरंतर क्रिया या कर्म वही है। क्रिया और कर्म दोनों समान हैं।

कर्म ज्ञान या अविद्या का पर्याय नहीं है। ये शायद कर्म के प्रयोजक हों। शिक्षा से भेद बुद्धि, भेद बुद्धि से राग-द्वेष और राग-द्वेष से कर्म करने की परम्परा अनादि है। राग-द्वेष तभी दूर हो सकते हैं जब व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर कर्म करता है। यही कारण है कि उपनिषदों ने कहा है कि बुद्धिमान लोग भी कर्म और अकर्म का असली रहस्य नहीं समझते। इसलिए कर्म रहस्य से अनभिज्ञ लोग वर्णाश्रमोचित कर्मों को छोड़ देते हैं और ब्रह्मज्ञान में बाधक समझते हैं। उन्हें कर्मों को त्यागने से कर्मों से छुटकारा नहीं मिलता। ऐसे में लोग आलस्य, निद्रा और प्रमाद में अपना अमूल्य समय बर्बाद करते हैं। इस व्यर्थ से बचने का एकमात्र तरीका है कर्म और ज्ञान के रहस्य को समझकर उसके अनुसार व्यवहार करना। मानव शरीर में दो तत्त्व हैंरू चेतन और अचेतन। जबकि अचेतन बदलता रहता है, चेतना निरंतर रहती है। उपनिषदों का मत है कि जन्म और कर्म का प्रत्यक्ष संबंध है।

यह जन्म और कर्म का अनिवार्य संबंध है, न कि कोई आकस्मिक घटना। प्राणियों में सुख-दुःख का संबंध उनके द्वारा किए गए शुभ कार्यों से है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि जो व्यक्ति शुभ कार्य करता है, वह महान है। वह अच्छी योनि में पैदा होता है, और जो लोग बुरा काम करते हैं, वे बुरी योनि में पैदा होते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जो प्राणी अच्छे काम करता है, वह साधु है। और जो लोग बुरा काम करते हैं, वे पापी हैं। पवित्र कार्यों से पुण्य और पाप कार्यों से पाप होता है। इस प्रकार कर्म को जीवों का उत्थान-पतन, सुख-दुःख तथा ऐश्वर्य-अनैश्वर्य बताया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद में कहा गया है कि जो कर्मयोगी सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों से व्याप्त अपने वर्णाश्रम और परिस्थिति के अनुकूल कर्त्तव्य कर्म का आरम्भकरके अपने अहंकार, ममता और आसक्ति आदि भावों को परब्रह्म परमात्मा में लगा देता है, तो उन कर्मों से उसके कर्त्तापन का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और ऐसे कर्म फलदायक नहीं होते जीव के सचित कर्म भी क्रियाशील कर्मों के अभाव में पूरी तरह से नष्ट हो जाते हैं। जब कर्म नष्ट हो जाते हैं, तो जीव परमात्म तत्त्व को पाता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में ईश्वर को कर्म का नियम बताया गया है। यह काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा (अचानक हुआ कुछ), पंचमहाभूत, जीवात्मा आदि कर्मों से नहीं होता। इसका कारण काल से पंचमहाभूतों तक बताए गए जड़ पदार्थों में से कोई भी नहीं है। जड होने के कारण ये सब चेतन के अधीन हैं। अतः ईश्वर ही कर्म का नियामक है, यानी चेतन सर्वज्ञ तत्त्व। ईश्वर ही प्रत्येक व्यक्ति को उनके कामों के अनुसार प्रतिफल देता है। ईश्वर बहुत बड़ा है और जीव बहुत छोटे हैं।

गीता का कर्मवाद: गीता में प्रतिपाद्य कर्म का सिद्धान्त है। गीता में प्रतिपादित कर्म की व्याख्या याज्ञिक कर्मकाण्ड और स्मृतियों तक ही सीमित नहीं है कर्म-सिद्धान्त में मनुष्य की सभी शारीरिक और मानसिक क्रियाएं शामिल हैं। यहाँ आदमी को निरंतर कार्य करने की प्रेरणा दी गई है। क्षण भर के लिए भी कोई कोई काम नहीं कर सकता। प्रकृति के गुणों से प्रेरित होकर मनुष्य को काम करना पड़ता है। क्रिया भी बिना शरीर निर्वाह या जीवन की रक्षा नहीं हो सकती। दूसरे, सृष्टि चक्र चलना बंद हो जाएगा अगर सभी कर्म करना छोड़ दें।

गीता में बताए गए कर्मों को करने की प्रेरणा कर्मयोग कहलाती है। वह कर्मशील है। जो अपने कर्त्तापन का अभिमान छोडकर काम करे। किसी भी कर्म के पांच कारण होते हैं: अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा, देव या ईश्वरी शक्ति। अगर किसी कार्य को इन पांच कारणों से किया जाता है, तो कर्त्ता को ही कारण मान लेना अहंकार है। गीता में कहा गया है कि अनाश्रितः कर्मफलं कार्य कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निराग्निर्न चाक्रियः।।

संन्यासी वह है जो अपने कर्तव्यों को पूरा करने के बजाय अपने कर्मफल पर निर्भर रहता है। यह योगी है। मात्र अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी या क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी दोनों नहीं हैं।

गीता में कर्म के तीन रूप हैं: कर्म, अकर्म और विकर्म।

1. सकाम भाव से शास्त्रविहित कार्य को कर्म कहते हैं।
2. फलेच्छा, ममत्व और आसक्ति से रहित होकर केवल दूसरों की भलाई के लिए किया गया कार्य अकर्म कहलाता है।
3. शास्त्रविहित कर्म भी विकर्म कहलाता है यदि दूसरे का अहित या दुःख पहुंचाने के उद्देश्य से किया जाए।

सभी कर्म करते हैं। किंतु दूसरे के लिए निरासक्त भाव से कार्य करना कर्मयोग है। योग अपने लिए होता है, और कर्म संसार के लिए होता है। इस बात को ध्यान में रखकर बुद्धिमान व्यक्ति हर समय कर्मयोग करने का प्रयत्न करता है।

अमृत काल
अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ समीक्षित एवं स्वीकृत शोध पत्रिका
ISSN: 3048-5118, खंड 4, अंक 1, जनवरी - मार्च 2026

गीता में ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग के बारे में बहुत कुछ बताया गया है, और कर्ममार्ग को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। निष्काम कर्म सर्वश्रेष्ठ है। निष्काम भाव से किया गया कार्य, चाहे वह अच्छा या बुरा हो, बंधन का कारण बनता है। निष्काम भाव से किया गया कार्य मुक्ति का कारण बनता है। इसलिए काम को स्वार्थ से दूर करना चाहिए। गीता में ईश्वरार्थ कर्म को निष्काम कर्म कहा गया है। वकत्तांपन का अभिमान ऐसे कार्य से रहित होता है-

ब्रहमण्याध्याय कर्माणि संग त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।
कर्मफल की अभिलाषा से रहित पुरुष कर्म करता हुआ भी जल में कमल के पत्ते के समान पाप से लिप्त नहीं होता।

मीमांसा दर्शन का कर्मवाद: पूर्वमीमांसा महर्षि जैमिनि का सूत्र है। यह वैदिक कर्मकाण्ड के बारे में निर्णय लेना चाहता है। मीमांसा दर्शन में वेद अपौरुषेय है। इस विचारधारा का मत है कि वेद नित्य है और किसी एक व्यक्ति से नहीं बना है। मीमासा दर्शन में ईश्वर को जगत् का निर्माता नहीं मानते। मीमांसा दर्शन मानता है कि कर्म में सृष्टि की शक्ति है। क्रियाओं में स्वतंत्रता है। इसे 'अपूर्व' कहा जाता है। जगत इसी से चलती है। निष्काम कर्म अपने आप परिणाम देता है। ईश्वर कर्मफल नहीं देता है। मीमांसा दर्शन में कर्म का अर्थ है वैदिक यज्ञ के अनुष्ठान। इस मामले में प्रसिद्ध उक्ति है, 'कर्मेति मीमांसका'।

कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा। योग्यताशास्त्रगम्या या सा पराऽपूर्वमिष्यते ।।
वैदिक यागादि कर्म करने से पहले कोई व्यक्ति स्वर्ग आदि को पाने में अयोग्य है। दर्शपूर्णमासादि यज्ञ भी अनुष्ठान से पहले स्वर्गीय भोग नहीं दे सकता। मीमांसाशास्त्र में इस पुरुष या ऋतुगत क्षमता को 'अपूर्व' कहा जाता है। अपूर्व या योग्यता योग की एक छोटी सी अवस्था है, जो कर्म से पैदा होती है और यजमान की आत्मा में रहती है जब तक कि फल प्राप्त नहीं होता। वेद धर्माधर्म का निरूपण करने में प्रमाण है, भले ही मनुष्य का ज्ञान लौकिक व्यवहार के लिए प्रामाणिक माना जाए। वेद अपने आप प्रमाण है। इसलिए वे बहस से परे हैं। वेद ही व्यक्ति को विधि प्रेरणा वाक्य के माध्यम से कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। वेद पर विश्वास करके विहित कर्म करने से मनुष्य सद्गति करता है। वेद विहित कर्म और फल के मध्य में अपूर्व अर्थात् कर्मों का शुभ या अशुभ फल या पुण्य-पाप रहता है। यह अपूर्व फल देता है।

बौद्ध दर्शन में कर्म सिद्धान्त: बौद्ध धर्म भी कर्म शब्द को क्रिया से लिया है। सभी कर्म शारीरिक, मानसिक और वाचिक हैं। बौद्ध धर्म ने कर्म शब्द को शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं के लिए प्रयोग किया है। लेकिन वे कर्म को भी चेतना कहते हैं। बुद्ध ने कहा, भिक्षुओ। चेतना ही कर्म है क्योंकि मनुष्य चेतना के माध्यम से शारीरिक, वाचिक और मानसिक रूप से कर्म में संलग्न होता है।

बौद्ध दर्शन में दो प्रकार के कर्म स्वीकार किए गए हैं चित् कर्म (मानसिक कर्म) और चेतसिक कर्म (काम और वचन से उत्पन्न कर्म)।

इसके अलावा, बौद्ध दर्शन में कर्मों को दो अन्य प्रकार से भी बांटा गया हैरू अकुशल कर्म (पाप कर्म) और कुशल कर्म (पुण्य कर्म)।

1. अकुशल कर्म: बौद्ध दर्शन के अनुसार शारीरिक, वाचिक और मानसिक अकुशल (पाप कर्म) के दस प्रकार है-
(अ) शारीरिक पाप (1) प्राण्णातिपात (हिंसा), (2) अदत्तादान (चोरी), (3) कामेसुमिच्छार (काम भोग सम्बन्धी दुराचार) (ब) वाचिक पाप (4) मुसावाद (असत्य भाषण), (5) पिसुनावाचा (पिशुन वचन), (6) फरुषवाच (कठोर बचन), (7) सम्फलाप (व्यर्थ आलाप) (स) मानसिक पाप (8) अभिज्जा (लोम), (9) व्यापाद (मानसिक हिसा या अहित वितन), (10) मिच्छादिल्ली (मिथ्यादृष्टि)

2. कुशल कर्म (पुण्य कर्म): संयुक्त निकाय में कहा गया है कि जो व्यक्ति भोजन, पानी, कपडा, बिस्तर और बैठने की वस्तुएँ दान देता है, उसके ऊपर पुण्य कर्माँ की धाराएँ आ गिरती है। अभिघम्मत्थसंग्रहो में चैतसिक (शुभ कर्म) के निम्न कार्य कहे गए हैं-

(1) श्रद्धा, (2) अप्रमत्तता (स्मृति) (3) पाप से घृणा, (4) पाप का भय, (5) अलोभ (त्याग), (6) मैत्री, (7) समभाव, (8) मन की शुद्धता, (9) शारीरिक प्रसन्नता, (10) मन का हल्कापन, (11) शरीर का हल्कापन, (12) मन की मृदुता. (13) शरीर की मृदुता (14) मन की सरलता, (15) शरीर की सरलता

इस प्रकार बौद्धों का मत है कि कार्य भाव से चित्तगत वात्सना सुख-दुःख का कारण बनती है। वासना से प्रेरित होकर व्यक्ति अच्छे या बुरे काम करता है और उसके अनुसार परिणाम भी मिलता है।

जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त: जैन धर्म में कर्म सिद्धान्त जगत् वैचित्र्य के रूप में मान्यता प्राप्त है। जैनागमों में कहा गया है कि कर्म से दुःख, या उपाधि मिलती है। सभी प्रकार के वैषम्य का मूल उद्देश्य कर्म है। कर्म ही व्यक्ति को सुख-दुःख देता है। इस विचित्रता का कारण भी काल, स्वभाव, नियति और यदृच्छा माना जाता है, किन्तु इनमें से सबसे प्रमुख कर्म ही है, क्योंकि कर्म के दारा ही इसे नियंत्रित करता है। विश्व भर में आशा-निराशा, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, प्रसन्नता-अप्रसन्नता आदि द्वन्द्व हैं। क्योंकि अहेतुक कोई कार्य

अमृत काल
अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ समीक्षित एवं स्वीकृत शोध पत्रिका
ISSN: 3048-5118, खंड 4, अंक 1, जनवरी - मार्च 2026

नहीं करता, इसलिए जगत् की इस विषमता का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। इस वैचित्र्य और वैषम्य का कारण खोजने पर कर्म ही इसका एकमात्र कारण है। जैन धर्म में कर्म की बहुत सी परिभाषाएँ हैं, वैसी जैसी की वैदिक धर्म में भी है। बृहद्वृत्ति में कर्म को उत्तराध्ययन कहा जाता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से अनुगत आत्मा द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है।

श्रीभिक्षु आगमविषयकोश में कहा गया है कि आत्मनः सदसत्प्रवृत्त्याऽष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गलाः कर्म अर्थात् जीव की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति से आकृष्ट सुख-दुख एवं आवरण के हेतुभूत पुद्गल स्कन्ध को कर्म कहा जाता है। जैनाचार्य देवेन्द्रसूरि ने कर्म का अर्थ बताते हुए कहा, ष्जीव की अपनी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक शुभाशुभ क्रिया द्वारा या मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन कारणों से प्रेरित होकर रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति से चुम्बक की तरह आकृष्ट आत्मा जो करता है, वह कर्म कहलाता है। जैन लक्षणावली के अनुसार, ष्अजनचूर्ण से परिपूर्ण डिब्बे के समान सूक्ष्म व स्थूलादि अनन्त पुद्गलों से परिपूर्ण लोक में कर्मरूप से परिणत होने योग्य नियत पुद्गल जीव परिणाम के अनुसार बन्ध को प्राप्त होकर ज्ञान दर्शन के घातक पुद्गलों को कर्म कहते हैं।

न्यायकुमुदचन्द में कहा गया है कि 'देशात देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दात्मपरिणामोऽर्थस्य कर्म' अर्थात् एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति में कारणभूत पदार्थ का परिस्पन्दात्म परिणाम कर्म है। आचारांगभाष्य के लेखक आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने कहा, आत्मा के द्वारा अपने अध्यवसाय से आकृष्ट शुभाशुभ पुद्गल संचित रहते है और आत्मप्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट होते है, इन्हें ही कर्म कहा जाता है। मुख्य रूप से, कर्म का अर्थ है श्प्रवृत्तिश्। क्रिया आत्मा और कर्म को जोडती है। जब तक आत्मा में कर्मजनित प्रकम्पन रहता है, तब तक उसका कर्म परमाणुओं से जुड़ा रहता है। यही कारण है कि क्रियावाद कर्मवाद का उपजीवी है। क्रिया है। इसलिए इसे करना कर्मबंध है। जीव संसार में संचरण करता है क्योंकि वह कर्म करता है। इसी तरह, जेन की दृष्टि में जीव के द्वारा जो कुछ भी किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं, साथ ही वार्म किस भावना से किया जाता है। यह बहुत महत्वपूर्ण है। महान जैन दार्शनिक सुखलाल संघवी ने कर्म और कर्म प्रवृत्ति को एक शब्द में समझाया है।

जैन धर्म और औपनिषदिक धर्म में कर्म के बारे में एक प्रमुख अंतर है कि जैन धर्म में आत्मा की प्रवृत्ति से आकृष्ट पुद्गल को कर्म कहा जाता है। इसलिए जैन धर्म कर्म को पौगलिक मानता है। वैदिक साहित्य में क्रियामात्र को कर्म कहा जाता है। वेदों में कर्म का अर्थ है यज्ञ-यागादि नित्यक्रियाएँ। वेद करणीय और अकरणीय दोनों प्रकार के कर्मों का उल्लेख करते हैं। उपनिषदों में वेदों का विकसित संस्करण मिलता है। उपनिषदों में 'कर्म' शब्द क्रिया का अर्थ है। निरंतर कार्य ही कर्म है। कर्म के बिना कोई व्यक्ति एक क्षण भी नहीं रह सकता। इसलिए उपनिषदों में मनुष्य की कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं को कर्म कहा गया है। जैन धर्म में भी शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं को कर्म कहा जाता है, लेकिन मुख्य अंतर यह है कि जैन कर्म सिद्धान्त में इन क्रियाओं के मूल में राग और द्वेष रूप भावों को शामिल किया गया है। रागो य दोषो वि य कम्मवीयं अर्थात् राग और द्वेष कर्म का बीज हैं।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म दो प्रकार का है: भावकर्म और द्रव्यकर्म। रागद्वेष का परिणाम है, यानी कषाय भाव कर्म। द्रव्य कर्म कार्मण जाति का पुद्गल जड तत्त्व है, जो कषाय के कारण आत्मा के साथ मिलता है। जैसा कि आचार्य अमृतचन्द ने लिखा है, श्आत्मा के द्वारा प्राप्त होने से क्रिया को कर्म कहते हैं। उस क्रिया के परिणामस्वरूप परिणमन भी एक विशिष्ट पुद्गल कर्म है। कर्मपुद्गल आत्मा से एक अलग तत्त्व है। जब तक आत्मा इस विजातीय तत्त्व के साथ मिलकर रहती है, तभी तक संसार है, और जब यह संयोग नष्ट हो जाता है, तो आत्मा मुक्त हो जाती है।

सन्दर्भ सूची:

[1]. तर्क संग्रह द कर्मादिलक्षण प्रकरण
[2]. न्यायकुसुमांजिल, 1/4
[3]. वैदिक दर्शन डॉ कपिल द्विवेदी प्रकाशन विश्वभारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर (भदोही) उत्तर प्रदेश
[4]. वैदिक दर्शन डॉ कपिल द्विवेदी प्रकाशन विश्वभारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर (भदोही) उत्तर प्रदेश
[5]. तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनवदिव लिङ्गम। गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासिनः20 (सांख्यकारिका, 20वां श्लोक)
[6]. पतंजलि योगसूत्र, 4/7
[7]. सत्त्व एक छोटी सी ज्योति है, सांख्यकारिका,
[8]. गुरुवरणकामेव तमः, सांख्यकारिका,
[9]. योग सूत्र-सतिमूले तद्विपाकोजात्यायुर्भागा, 2/13
[10]. श्डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र, कर्म की हिन्दू अवधारणा
[11]. डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-5. पृ. 370.
[12]. ईसावास्योपनिषद, मन्त्र-2
[13]. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/11
[14]. तद्य इह रमणीयावरणा अभ्यासो छ यत्ते रमणीया योनिमापद्येरन्। य इह कपूयाचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् छान्दोग्योपनिषद् 5ध्10ध्7

अमृत काल
अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ समीक्षित एवं स्वीकृत शोध पत्रिका
ISSN: 3048-5118, खंड 4, अंक 1, जनवरी - मार्च 2026

[15]. यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति। पुण्य पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। यत्कर्म कुरुते तदभिसपराते 4ध्4ध्5 बृहदारण्यकोपनिषद्
[16]. श्वेताश्वतरोपनिषद, 6/4
[17]. कालोश्वभावोनियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या। संयोग येषा नत्वात्मभापादात्माप्यनीतः सुखदुःखहेतोः ।। श्वेताश्वतरोपनिषद्,)
[18]. अधीष्ठान तथा कर्त्ता करण च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक चेष्टा देव चैवात्र पचमम् ।। गीता 18/4